

समयसार, ३७वीं गाथा चलती है। यहाँ तक आया है। इस जगत में... इस प्रकार आत्मा में प्रकाशमान.... आत्मा में अनन्त परद्रव्य प्रकाशमान हैं, जानने में आते हैं – ऐसे यह धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीव — ये समस्त परद्रव्य मेरे सम्बन्धी नहीं हैं;... मेरे ज्ञान में जो अनन्त-अनन्त परमाणु, अनन्त जीव, जानने में आते हैं, तथापि मेरे और उनके कोई सम्बन्ध नहीं है। आहाहा!

श्रोता : जानने में आवे, इतना तो सम्बन्ध हुआ न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : जानने में आया है, वह अपना स्वरूप। परन्तु यह जानने में आया, यह व्यवहार कहा।

श्रोता : यह भी व्यवहार है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध, यह व्यवहार है।

श्रोता : व्यवहार सम्बन्ध तो है न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार अर्थात् ? सामने निमित्त है इतना ! व्यवहार अर्थात् क्या ? जानने में स्वयं से जाना है, ज्ञान के स्वभाव में स्व परप्रकाशक की सामर्थ्य से प्रकाशमान सभी द्रव्य जाने, परन्तु उसे अपनी स्वशक्ति से जानता है। इसने पर जाने – ऐसा कहना यह व्यवहार है। निमित्त-निमित्त सम्बन्ध इतना बतलाया।

तथापि.... आहाहा! मेरा भगवान आत्मा ज्ञायकस्वभाव के साथ उन्हें कोई सम्बन्ध नहीं है। **क्योंकि....** यहाँ तक तो कल आया था। सूक्ष्म बात है प्रभु! ओहोहो! एक-एक परमाणु में अनन्त-अनन्त गुण, जिनका पार नहीं। ऐसे अनन्त-अनन्त परमाणु; एक-एक आत्मा में अनन्त-अनन्त गुण, जिनका अन्त नहीं। आहाहा! ऐसे अनन्त आत्माएँ और अनन्त परमाणु मेरे ज्ञान में ज्ञात होते हैं, ज्ञात होते हैं। आहाहा!

श्रोता : वे ज्ञात होते हैं या उन सम्बन्धी का अपना ज्ञान ज्ञात होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह जानता है - ऐसा कहना है न अभी तो! जानता है अपनी पर्याय परन्तु वे ज्ञात होते हैं, ज्ञात होते हैं - ऐसा। आहाहा! कितने भी पदार्थ, ऐसा। भाई! सूक्ष्म बात है, भाषा से पार पड़े ऐसा नहीं है। ऐसी वस्तु ऐसी है। आहाहा!

भगवान आत्मा की ज्ञान की पर्याय में अनन्त-अनन्त.... यहाँ अंगुल के असंख्य भाग यहाँ लो तो उसमें अनन्त आत्माएँ हैं और अनन्त स्कन्ध हैं। अनन्त तैजस और कार्मणशरीर है। आहाहा! ऐसा पूरा लोक भरा है, तथापि मेरे ज्ञान में वे प्रकाशमान-ज्ञात होते हैं। यह है - ऐसा ज्ञात होता है इतना! बाकी मुझे और उनके कोई सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! स्त्री, कुटुम्ब और परिवार.... ज्ञानी ऐसा जानता है कि मेरे ज्ञान में वे हैं - ऐसा ज्ञात होता है; मेरे हैं - ऐसा नहीं। आहाहा! देव-गुरु और शास्त्र; देव - अनन्त सिद्ध, लाखों अरिहन्त, करोड़ों, आदि आचार्य, उपाध्याय और साधु ये सब परद्रव्य में अनन्त-अनन्त गुणसहित, ऐसे अनन्त आत्माएँ और अनन्त रजकण मेरे प्रकाशमान में प्रकाशित होते हैं, बाकी उनके और मुझे कोई सम्बन्ध है नहीं। आहाहा! अन्तिम की गाथा है न?

श्रोता : धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय को पहले क्यों लिया?

पूज्य गुरुदेवश्री : चार नाम दिये। छह द्रव्यों को - सब जगह ऐसा आता है न? धर्मास्ति से-आदि से छह नाम आवे, तब इस प्रकार ही शास्त्र में आते हैं। गति में निमित्त (धर्मास्ति) स्थिरता में निमित्त अधर्मास्ति, काल, आकाश। आकाश के एक प्रदेश (क्षेत्र) में अनन्त आत्माएँ और अनन्त रजकण हैं। वे सूक्ष्म होकर आवें तो एक प्रदेश में समा जायें, इतनी तो आकाश के एक प्रदेश की अवगाहन शक्ति है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात, बापू! वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म है। आहाहा! एक आकाश के प्रदेश में, यह यहाँ से जो अंगुल यहाँ

असंख्य अनन्त आत्माएँ और अनन्त रजकण हैं, ऐसा पूरा लोक भरा है। यह जो सूक्ष्म होकर एक प्रदेश में आवे तो समा जाये, ऐसी एक प्रदेश की अवगाहनशक्ति है।

इसी तरह एक कालाणु की इतनी शक्ति है कि अनन्त पुद्गल-जीव यदि एक स्थान में आवे तो सबको परिणमन में निमित्त हो, ऐसी ताकत है। धर्मास्तिकाय के एक-एक प्रदेश में इतनी ताकत है कि अनन्त आत्मा और परमाणु उस समय गति हो तो उसमें निमित्तपना हो, ऐसी उसकी ताकत है। अधर्मास्तिकाय के एक-एक प्रदेश में इतनी ताकत है कि अनन्त आत्मा और अनन्त परमाणु उस स्थान में गति करके स्थिर हो तो उसमें निमित्त की शक्ति अनन्त की है। आहाहा! धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश, और काल। एक परमाणु में ऐसी ताकत है कि अनन्त-अनन्त गुण (का) जिसमें पार नहीं, माप नहीं की यह गुण, यह वर्ण, रस, गंध, स्पर्श करते-करते, करते-करते यह-यह यह अन्तिम गुण-यह इतना ही द्रव्य है - ऐसा न देखो, वह जड़स्वभावी वस्तु है कि जिसके अन्तर में अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... के अनन्तगुणा गुण, तथापि पार न आवे। एक परमाणु में इतने गुणों का स्वभाव है और इतनी उनकी पर्यायें हैं। आहाहा! ऐसे अनन्त आत्माएँ और अनन्त रजकण, उनके अनन्त गुण, उनकी अनन्त पर्यायें - भगवान आत्मा ऐसा जानता है, पर्याय में, हों! जानता है तो पर्याय में न? कि यह सब चीजें मुझमें प्रकाशमान होती है - ज्ञात (होती है)। मैं तो जाननेवाला हूँ। है? आहाहा! **मेरे सम्बन्धी नहीं हैं;**.... इनके साथ, आहाहा! कितनी गहरी-गहरी शक्ति जगत की। आहाहा! उसे आत्मा ऐसा जाने कि मेरी ज्ञान की पर्याय में, एक गुण की एक पर्याय में... आहाहा! यह सब अनन्तायें प्रकाशमान होती हैं — ऐसा मेरा स्वभाव है। आहाहा!

ऐसी एक समय की ज्ञान की पर्याय की इतनी ताकत! ऐसी-ऐसी अनन्त पर्यायों में इतनी ही सब ताकत!! आहाहा! ऐसी समस्त पर्याय को जाननेवाली मेरी पर्याय, वह ऐसा जानती है कि **टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावत्व से परमार्थतः अन्तरंगतत्त्व तो मैं हूँ....** जानती है वर्तमान पर्याय; वह पर्याय ऐसा जानती है कि प्रगट पर्याय (जानती है) कि टंकोत्कीर्ण ऐसा का ऐसा चैतन्यस्वभाव एक ज्ञायकस्वभाव — एक ज्ञायकस्वभाव... पर्यायें भले अनेक हों, गुण अनेक हों परन्तु वस्तु है वह तो एकरूप ज्ञायकभाव, एक

ज्ञायकस्वभावभाव, स्वभावत्व से परमार्थतः अन्तरंगतत्त्व तो मैं हूँ.... आहाहा! वह पर्याय ऐसा जानती है कि मैं अन्तरंग तत्त्व तो, इस पर्याय में जो सब ज्ञात होता है, उसकी - जाननेवाले की मेरी पर्याय में प्रकाशमान है। ऐसी पर्याय यह जानती है कि मैं तो टंकोत्कीर्ण ज्ञायकभाव अन्तरंग तत्त्व हूँ। आहाहा! ये सब ज्ञात होते हैं, एक पर की (परलक्ष्यी) पर्याय में, उतना ही मैं नहीं हूँ। आहाहा! भाई! वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म है। आहाहा!

यह ज्ञानपर्याय, ऐसे अनन्त द्रव्यों को एक समय में, उनके गुणों को प्रकाशित करने में, स्वयं से प्रकाशित करने में समर्थ है, वह पर्याय ऐसा कहती है, आहाहा! कि मैं तो एक ज्ञायकस्वभावपने से.... मेरा तो त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव भरपूर है, एक समय की पर्याय जितना नहीं। आहाहा!

श्रोता : अकेला ज्ञायकस्वभाव कहे या अनन्त गुण साथ में आ जाते हैं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : एक ज्ञायकस्वभाव कहते ही अनन्त गुण, परन्तु यहाँ ज्ञान की प्रधानता से वर्णन लेना है न ? क्योंकि ज्ञानपर्याय जानती है न ? इतना ज्ञायकभाव ज्ञानस्वभाव है - ऐसा लेना है, वरना तो अनन्त स्वभाव हैं परन्तु अनन्त स्वभाव को जाननेवाला तो ज्ञान है न ? और ज्ञान की प्रधानता है न ? दूसरे हैं, उनकी उन्हें खबर नहीं। दूसरे अनन्त गुण हैं, उस गुण को गुण का पता नहीं। आहाहा!

श्रोता : यह कहाँ आवश्यक है गुण को स्वयं गुण कहना यह....

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! ये ज्ञायकस्वभाव है, उस ज्ञान को उसके स्वभाव का पता है। आहाहा!

एक ज्ञायकस्वभावत्व से परमार्थतः... वास्तव में **अन्तरंगतत्त्व....** अर्थात् उस पर्याय में सब प्रकाशित होता है, इतना भी मैं नहीं; मैं तो परमार्थ से पूर्ण अन्तरंगतत्त्व (हूँ) आहाहा!

श्रोता : बहुत स्पष्ट।

पूज्य गुरुदेवश्री : सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा! सम्यग्दर्शन का विषय अखण्ड ज्ञायकभाव त्रिकाल, आहाहा! एक ज्ञायकस्वभावपना, ज्ञायकस्वभाव है, उससे वास्तव में

अन्तरंग तत्त्व तो मैं हूँ। ऐसे ज्ञान की वर्तमान पर्याय ऐसा जाने और निर्णय करती है। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म पड़े परन्तु प्रभु! यह जानने से ही छूटकारा है, भाई! भव भ्रमण का फेरा कर-करके मर गया है। वहाँ किसी की सिफारिश काम नहीं करती। आहाहा! ऐसा जो यह भगवान, एक समय में अनन्त-अनन्त द्रव्य और प्रत्येक द्रव्य के अनन्त गुण, जिनका पार नहीं, वे सब मेरी पर्याय में प्रकाशमान होते हैं। मेरी पर्याय उन्हें बराबर जानती है - ऐसा कहते हैं। तथापि पर्याय ऐसा कहती है कि वास्तव में तो मैं अन्तरंग तत्त्व ज्ञायकस्वभावरूप मैं एक हूँ। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

श्रोता : पर्याय, अन्तरंग तत्त्व से अलग नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय निर्णय करती है। अन्तरंग तत्त्व ज्ञायकभाव पूरा, पूर्ण। वह पर्याय ऐसा निर्णय करती है कि मैं अन्तरंग परमात्मतत्त्व ज्ञायकभाव वह मैं हूँ। ज्ञायकतत्त्व जो ज्ञायक ध्रुव है, वह कहाँ निर्णय करता है? निर्णय करना है, वह तो पर्याय में है। यह तो विशिष्टता तो यह है कि ये सब गाथायें अलौकिक गाथायें हैं। आहाहा!

यहाँ तो अनन्त... अनन्त... अनन्त... द्रव्य और उनके अनन्त... अनन्त... अनन्त... गुण, मेरी प्रगट पर्याय में प्रकाशमान हैं परन्तु मुझे और उनके कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसी जो पर्याय एक समय की ज्ञान की, ऐसी-ऐसी अनन्त पर्यायें शक्तिवाली है, क्योंकि एक समय में ज्ञान की है, वैसी श्रद्धा की, स्थिरता की, वैसी वीर्य की, वैसी अनन्त ताकतवाली (पर्यायें हैं) परन्तु यह ज्ञान की पर्याय... उसे जानना है न? आहाहा! मेरा प्रभु तो अन्दर अन्तरंग तत्त्व, वह मैं एक हूँ - ऐसे सब पर्यायों के अनन्त भेद या गुणभेद वह नहीं; मैं तो एक हूँ। आहाहा! सूक्ष्म है प्रभु! अभी यह चलता नहीं, इसलिए लोगों को दूसरा लगता है। मूल चीज यह है और यह मूल चीज जाने बिना इसे सम्यग्दर्शन होता नहीं और इसका आगे बढ़ने का चारित्र आदि हो सकता नहीं।

आहाहा! क्योंकि टंकोत्कीर्ण ऐसा का ऐसा मानो अन्दर भगवान ऐसा, अदबदनाथ! है न यहाँ पालीताणा में? मूल में से टांकी से खोद-खोदकर अन्दर से निकाला है, वह। ऐसा यह मैं तो अन्दर में टंकोत्कीर्ण, अर्थात् पूर्ण अखण्डानन्द प्रभु ज्ञायकस्वभावत्व के कारण - इसके कारण मैं परमार्थ से अन्तरंग तत्त्व, वह मैं हूँ। आहाहा! परमार्थ से अन्तरंग तत्त्व तो मैं हूँ।

और ये परद्रव्य.... अनन्त सिद्ध, अनन्त जीव निगोद के, अनन्त परमाणु, आकाश, धर्मास्ति, अधर्मास्ति, कालाणु, **मेरे स्वभाव से भिन्न....** मेरे स्वभाव से भिन्न - ये सिद्ध भी मेरे स्वभाव से भिन्न हैं। आहाहा! मेरा स्वभाव है, उससे सिद्ध अनन्त, परन्तु मेरे स्वभाव से वे भिन्न हैं। आहाहा! **वे परद्रव्य मेरे स्वभाव से भिन्न स्वभाववाले होने से....** मेरे स्वभाव से भिन्न, परन्तु स्वभाववाले होने से। आहाहा! मेरे स्वभाव से भिन्न स्वभाववाले हैं। वे हैं तो भिन्न स्वभाववाले, परन्तु मेरे स्वभाव से भिन्न स्वभाववाले हैं। परमाणु, सिद्ध अरिहन्त, अनन्त निगोद के जीव, अनन्त परमाणु के स्कन्ध, अचेतन महास्कन्ध पूरा एक है, वह **मेरे स्वभाव से भिन्न स्वभाववाले....** है। आहाहा!

परमार्थ से जैसे अन्तरंग तत्त्व मैं हूँ, वैसे **परमार्थतः बाह्यतत्त्वरूपता को छोड़ने के लिए असमर्थ हैं....** आहाहा! जैसे मैं ज्ञायकभाव एकरूप परमार्थ अन्तरंग तत्त्व हूँ; आहाहा! जिसकी दृष्टि का विषय जो ज्ञायक त्रिकाल वह मैं हूँ और मेरे स्वभाव से ये सब भिन्न स्वभाववाले, वे भी परमार्थ बाह्यपने को छोड़ने में असमर्थ हैं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! सन्तों ने अमृत बहाया है! दिगम्बर मुनियों ने तो... आहाहा! अमृत का प्रपात बहाया है। आहाहा! भगवान! तेरी एक समय की ज्ञान की एक गुण की एक पर्याय में इतने-इतने अनन्त भिन्न स्वभाववाले, तेरे स्वभाव से भिन्न स्वभाववाले प्रकाशित हों, तथापि तू ऐसा कहता है कि मैं तो इतना ही नहीं; मैं तो अन्तरंग ज्ञायकभाव त्रिकाल, ज्ञायकभाव वह मैं परमार्थ तत्त्व हूँ। आहाहा! समझ में आये उतना समझना, प्रभु! यह तो पार नहीं पड़े, भाई! आहाहा!

वे परद्रव्य मेरे स्वभाव से भिन्न स्वभाववाले.... आहाहा! वे सिद्ध भी मेरे स्वभाव से भिन्न स्वभाववाले। यह स्वभाव वहाँ नहीं न? आहाहा! **होने से परमार्थतः....** परमार्थतः उसमें भी आया था। परमार्थतः अन्तरंगतत्त्व ज्ञायकभाव वह मैं हूँ। **परमार्थतः बाह्यतत्त्वरूपता को छोड़ने के लिए असमर्थ हैं....** अर्थात् कि मुझे ज्ञानपर्याय में वे भिन्न स्वभाववाले प्रकाशित होने पर भी, वे ज्ञेयपना छोड़ते नहीं और ज्ञेयपना छोड़कर मेरी पर्याय में आ नहीं जाते। आहाहा! (**क्योंकि वे अपने स्वभाव का अभाव करके ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होते**).... अर्थात् क्या? क्यों कहा यह? कि मेरे प्रभु की पर्याय में - ज्ञान प्रकाश में वे सब प्रकाशित हों, तथापि उस प्रकाश में वे ज्ञेय मेरी ज्ञान की पर्याय में आते

नहीं। आहाहा! उनमें रहकर मेरे ज्ञान की पर्याय में प्रकाशित होते हैं; मुझमें आकर प्रकाशित होते हैं - ऐसा नहीं है। आहाहा! वे मेरे स्वभाव से भिन्न स्वभाववाले हैं। परमार्थतः उस बाह्यपने का मेरी पर्याय में उसका जानना होता है, इसलिए वे बाह्यपना छोड़कर मुझमें आते हैं - ऐसा नहीं है। बाह्यपने-बाह्यपने रहकर मेरी पर्याय उन्हें प्रकाशती है। आहाहा! (क्योंकि वे अपने स्वभाव का अभाव करके ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होते).... आहाहा!

मेरी पर्याय में प्रकाशित होते हैं, इसलिए वे स्वभाव छोड़कर यहाँ आ जाते हैं (ऐसा नहीं है)। आहाहा! क्या टीका तो टीका! गजब बात! ऐसी टीका भरतक्षेत्र में अन्य कहीं है नहीं बापू! आहाहा!

परमार्थतः एक... आहाहा! वह यहाँ कहा था असमर्थ है। और यहाँ स्वयमेव, (चैतन्य में) नित्य उपयुक्त.... स्वयंमेव नित्य उपयोग, स्वयं के कारण स्वयंमेव नित्य उपयोग। वह चीजें ज्ञात होती हैं, उसके कारण यहाँ शुद्ध उपयोग हुआ है - ऐसा नहीं है। आहाहा! भाग्यवान के कान में पड़े यह ऐसी बातें हैं। आहाहा! प्रभु! आहाहा! यहाँ स्वयमेव, (चैतन्य में) नित्य उपयुक्त... यह जानने का नित्य उपयोग, कायमी उपयोग, और पर्याय में भी ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होते। मेरे उपयोग में तो आते नहीं, आ जाते नहीं; उन सम्बन्धी का मेरा ज्ञान मुझमें आता है परन्तु वह चीज नहीं आती। आहाहा! वह चीज तो उसकी सत्ता में रहना, उसका अस्तित्व वहाँ रहता है। आहाहा! समझ में आया? अरेरे! आहाहा! ऐसा तत्त्व! अब साधारण, जहाँ जानकर अभिमान हो जाये उन्हें... आहाहा! मुझे आता है। बापू! यह बात बहुत कठिन है, भाई! आहाहा! कोई शास्त्र की जानकारी हो और मुझे आता है, इसका अन्दर अभिमान हो जाये... आहाहा!

श्रोता : अटक जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अटक गया, अटक जाता है, भाई! आहाहा! यह तो शास्त्र का ज्ञान खण्ड-खण्ड ज्ञान (है)। यह भगवान तो अखण्ड वस्तु (है)। उसकी ओर से हुआ ज्ञान, उस ज्ञान में सब ज्ञात हों, तथापि वे यहाँ आते नहीं और वह पर्याय परमार्थ से अन्तरंग तत्त्व से भिन्न है और परमार्थतः बाह्य तत्त्व से वह उसके स्वभाव को छोड़े बिना वह भिन्न है। आहाहा! कहाँ गये छोटाभाई? ऐसी बातें हैं यह सब। कलकत्ता में पैसे का ढेर हो, पाप का। आहाहा!

श्रोता : प्रथम पाप का उदय है, अकेला पाप ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! ऐसे जैसे मिले वहाँ प्रसन्न-प्रसन्न हो जाये। अरे, भगवान! तीन लोक का नाथ तू इतने में प्रसन्न हुआ! क्या हुआ, तुझे प्रभु! आहाहा! तेरी पर्याय में अनन्त ज्ञात हों और वह पर्याय ऐसा कहे कि मैं तो अन्तरंग तत्त्व अखण्ड आनन्द हूँ, उसके बदले वहाँ प्रसन्न न होकर यहाँ प्रसन्न होता है? आहाहा!

और यहाँ स्वयमेव, (चैतन्य में) नित्य उपयुक्त.... कायम उपयोग मेरा त्रिकाली स्वभाव है। आहाहा! **और परमार्थ से एक,....** आहाहा! **अनाकुल आत्मा का अनुभव करता हुआ भगवान....** आहाहा! वह तो प्रकाशकत्व अन्तरंग तत्त्व एक हूँ परन्तु अब मैं तो मेरी पर्याय में अनाकुल आनन्द का अनुभव करता हुआ – ऐसा कहते हैं। आहा! **परमार्थ से एक, अनाकुल आत्मा का अनुभव करता हुआ....** आहाहा! आनन्दस्वरूपी आत्मा को मैं वेदता-अनुभव करता हुआ। आहा! ऐसा **भगवान आत्मा ही जानता है कि....** आहाहा! पाठ में उपयोग है, **उवओग एव अहमेवको** अर्थात् एक अर्थ किया था न नीचे (फुटनोट में) ? उपयोग जानता है – टीका में ऐसा द्रव्य लिया, इसलिए दूसरा अर्थ करना पड़ा। आहाहा!

धर्मी ऐसा कहता है कि मेरी पर्याय में अनन्त-अनन्त प्रकाशित होते हैं, तथापि उनका स्वभाव वे छोड़ते नहीं और मैं, वे प्रकाशित होते हैं, उतनी पर्यायवाला नहीं। आहाहा! मैं तो अन्तरंग तत्त्व ज्ञायकभाव स्वभाववाला हूँ और वे मेरी पर्याय में प्रकाशित होते हैं, उनके साथ मैं अनाकुल आनन्द के अनुभव को अनुभव करता हूँ। आहाहा! वे सब प्रकाशित होते हैं; इसलिए वहाँ आकुलता होती है (– ऐसा नहीं है) आहाहा! ज्ञान का स्वभाव वर्णन किया, साथ ही आनन्द का वर्णन करते हैं। साथ में जहाँ हो वहाँ ज्ञान और आनन्द दो रखते हैं। मेरा प्रभु मेरी पर्याय में अनन्त द्रव्य के स्वभाव को, उन्हें स्पर्श किये बिना जानता है, उनको स्वभाव को छोड़ता नहीं, तथापि मैं उस पर्याय जितना नहीं। मैं तो अन्तरंग पूर्णानन्द ज्ञायक भाव हूँ, उसके कारण जैसे प्रकाश में अनन्त को प्रकाशित करता हूँ, अपनी पर्याय के बल से, जैसे मेरे आनन्द की पर्याय से मैं मेरे आत्मा को अनाकुल अनुभव करता हूँ। आहाहा!

स्वयमेव, नित्य उपयुक्त और परमार्थ से एक, अनाकुल आत्मा का अनुभव करता हुआ.... आहाहा! ऐसा भगवान आत्मा ही जानता है.... आहाहा! अर्थात् कि वह जानता है, वह अनाकुलता आनन्द को अनुभव करता हुआ जानता है। जानते हुए उसे दुःख होता है या आकुलता है या विकल्प है... आहाहा! ऐसा नहीं है।

यह ज्ञायकभाव अन्तरंग तत्त्व, वह मैं हूँ और पर्याय में यह सब प्रकाशित होता है, उस पर्याय जितना मैं नहीं हूँ। इतना तो प्रकाशता हूँ परन्तु उसके साथ मेरा भगवान अनाकुल आनन्दस्वरूप है, इसलिए वर्तमान में भी मैं अनाकुल आनन्द का अनुभव करता हूँ। ऐसा जो भगवान आत्मा, आहाहा! वह जानता है कि अनाकुल आत्मा का अनुभव करता हुआ.... ऐसा भगवान आत्मा ही जानता है कि... आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

धन्य भाग्य ऐसी वस्तु रह गयी! परमार्थ और केवली का विरह पड़ा परन्तु विरह भूलावे ऐसी बातें हैं। आहाहा! मैं आत्मा, मेरी पर्याय में - एक ज्ञान की पर्याय में अनन्त-अनन्त द्रव्यस्वभाव जो हैं, वे मेरा स्वभाव छोड़े बिना मुझे प्रकाशित करते हैं, उनके साथ मेरा भगवान आत्मा एकरूप है उसे अनाकुल आत्मा का अनुभव करता हुआ... आहाहा! अनन्त को जाना तब कहलाता है कि जिसके साथ आनन्द का अनुभव हो - ऐसा कहते हैं। आहाहा! क्या शैली! गजब नाथ! उन अनन्त को जानने की प्रकाश की पर्याय, उसे... उसे... उसे... तब कहते हैं... आहाहा! कि एकरूप अनाकुल भगवान आत्मा का अनुभव (ज्ञान और आनन्द) दो साथ में... आहाहा! भगवान आत्मा ही जानता है कि.... आहाहा! अनाकुल आत्मा के आनन्द को... आहाहा! अनुभव करता हुआ भगवान आत्मा ही जानता है कि.... यह टीका! आहाहा! मैं प्रगट निश्चय से एक ही हूँ,.... आहाहा!

मैं प्रगट.... व्यक्त, प्रगट निश्चय से एक ही हूँ,.... आहाहा! उन अनन्त को जानने पर भी मैं अनेक नहीं हो जाता और पर्याय में अनेकपना होने पर भी, द्रव्य अनेक नहीं हो जाता; द्रव्य तो एकरूप ही रहता है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! मैं प्रगट वास्तव में एक ही हूँ। इसलिए ज्ञेयज्ञायकभावमात्र से उत्पन्न परद्रव्यों के साथ परस्पर मिलन.... मेरे और ज्ञेय और ज्ञायकभावमात्र से, मेरे ज्ञायकभावमात्र से और ज्ञेय के साथ

जानने का उत्पन्न हुआ, तथापि प्रगट स्वाद में आते हुए स्वभाव के भेद के कारण..... आहाहा! मेरे उन ज्ञेय को जानने का मेरा स्वभाव होने पर भी, मेरा स्वाद अनाकुल आनन्द और उसकी चीज का स्वाद अलग, आहाहा! होने पर भी, प्रगट स्वाद में आते हुए स्वभाव के भेद के कारण.... इन छह द्रव्यों का स्वभाव... अरे! अनन्त सिद्धों का स्वभाव, उनके स्वाद का भाव उसके पास, अनन्त निगोद के स्वाद का आकुलता का भाव उसके पास, मैं उन्हें प्रकाशित करता होने पर भी, आहा! मेरे स्वाद के भेद के कारण धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीवों के प्रति मैं निर्मम हूँ;.... आहाहा! वे मेरे हैं - ऐसा नहीं। मैं तो निर्मम हूँ। आहाहा! सिद्ध मेरे हैं, अरिहन्त मेरे हैं, गुरु मेरे हैं - ऐसा नहीं है, कहते हैं। आहाहा! स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब तो कहीं रह गया। आहाहा! अनन्त सिद्ध मेरी पर्याय में प्रकाशित होते हैं तो भी ज्ञेय-ज्ञायकभावपने के भाव के कारण मेरे स्वाद से वह चीज भिन्न है, आहाहा। इसलिए उसके प्रति निर्मम हूँ। आहाहा!

सबको प्रकाशित करने की पर्याय में इतनी ताकत होने पर भी, अन्तरंग तत्त्व, वह एक मैं हूँ और उस तत्त्व अनाकुल आनन्द का वर्तमान में मैं अनुभव करता हूँ। अकेला जानना हुआ है - ऐसा नहीं, यह कहते हैं। आहाहा! मेरा स्वाद भी बदल गया। आहाहा! प्रकाशित करने में आये और मेरा अनाकुल आनन्द का स्वाद भी साथ में आया। आहाहा! ऐसे अनाकुल आनन्द के स्वाद से दूसरों के स्वाद के तत्त्व भिन्न हैं - ऐसा मैं जानता हूँ। आहाहा! क्या टीका, यह गजब बात है न! अरे! एक-एक श्लोक! यह बात कहीं दिगम्बर सन्तों के अतिरिक्त कहीं नहीं है। लगे, दुःख लगे दूसरे को कि तब हमारा यह सम्प्रदाय खोटा? बापू, भाई! है वह है, बापू! आहाहा! प्रगट स्वाद में आते हुए स्वभाव के भेद के कारण.... अर्थात् अनाकुल आनन्द तो मैं हूँ परन्तु उसकी पर्याय में भी प्रगट स्वाद आता है। आहाहा! समझ में आया? प्रगट स्वाद में आते हुए स्वभाव के भेद के कारण.... स्वाद में आते हुए स्वभाव के भेद के कारण। आहाहा! धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीवों के प्रति मैं निर्मम हूँ;.... आहाहा! वे मेरे नहीं हैं। मेरे स्वाद में आता हुआ मेरा प्रभु, आहाहा! वह वे दूसरे मेरे नहीं है। आहाहा! ज्ञान और आनन्द की मुख्यता दो की वर्णन की, है तो अनन्त गुण परन्तु प्रकाश-असाधारण ज्ञानस्वभाव और उसके साथ आनन्दस्वभाव इन्हें... आहाहा! इन्हें दो रूप वर्णन किया, भाई! अनन्त तो साथ है।

क्योंकि सदा ही अपने एकत्व में प्राप्त होने से.... मेरा प्रभु सदा अपने एकत्व में प्राप्त होने से... एकत्व में प्राप्त है; द्वैतपना उसमें होता ही नहीं। आहाहा! सदा ही अपने एकत्व में प्राप्त होने से समय (आत्मपदार्थ अथवा प्रत्येक पदार्थ) ज्यों का त्यों ही स्थित रहता है;.... आहाहा! मैं सबको प्रकाशित करता हूँ, तथापि मेरे अनाकुल स्वभाव के स्वाद से दूसरों को जानता हूँ, तो भी उनके प्रति निर्मम हूँ और वह मेरा आत्मा ज्यों का त्यों स्थित रहता है। आहाहा! द्रव्यरूप से, गुणरूप से, और पर्यायरूप से आनन्द को प्रकाशित करता हुआ ज्यों का त्यों ही स्थित है। आहाहा! उनके और मेरे कोई सम्बन्ध दूसरों को हैं नहीं। आहाहा! कहो, रामजी, गोविन्दरामजी नहीं, हम रामजी कहेंगे, राम है न आत्मा! आहाहा!

श्रोता : गोविन्द और राम दोनों एक ही होते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : गोविन्द और राम, आहाहा! आहाहा! क्या भाषा में भाव भरे हैं, आहाहा! अब तो सन्त जब टीका करते होंगे... आहाहा! उनकी दशा में भले ही विकल्प उत्पन्न हुआ, तथापि उसे और सबको जानता हुआ प्रकाशमान ऐसा मेरा अन्तरंग तत्त्व... आहाहा! उस दूसरे के स्वभाव से भिन्न है और मेरे स्वभाव से दूसरे स्वभाववाले भिन्न हैं। आहाहा!

ऐसा मेरा प्रगट प्रभु... आहाहा! है ? सदा ही अपने एकत्व में प्राप्त होने से.... अनेक अनन्त को जानने पर भी मैं एकपने में हूँ, अनन्त को जानते हुए मैं एकपने में हूँ; अनेक को जानते हुए मैं अनेकरूप हो नहीं गया। आहाहा! कितनी धीरज चाहिए, बापू! आहाहा! मेरा आत्मा और दूसरे तो ज्यों के त्यों स्थित रहते हैं। आहाहा! (अपने स्वभाव को कोई पदार्थ नहीं छोड़ता)। इस प्रकार ज्ञेयभावों से भेदज्ञान हुआ। आहाहा! ज्ञेय भी उसके स्वभाव में स्थित एकरूप रहते हैं। मैं भी मेरे स्वभाव में एक हूँ। आहाहा! इस प्रकार ज्ञेयभावों से भेदज्ञान हुआ। आहाहा! ज्ञेयों से मेरा ज्ञायकभाव भिन्न है - ऐसा यहाँ भेदज्ञान किया। आहाहा!

कलश - ३१

अब, इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

(मालिनी)

इति सति सह सर्वैरन्यभावैर्विवेके
स्वयमयमुपयोगो बिभ्रदात्मानमेकम् ।
प्रकटितपरमार्थैर्दर्शनज्ञानवृत्तैः
कृतपरिणतिरात्माराम एव प्रवृत्तः ॥३१ ॥

श्लोकार्थ : [इति] इस प्रकार पूर्वोक्तरूप से भावकभाव और ज्ञेयभावों से भेदज्ञान होने पर जब [सर्वैः अन्यभावैः सह विवेके सति] सर्व अन्यभावों से भिन्नता हुई तब [अयं उपयोगः] यह उपयोग [स्वयं] स्वयं ही [एकं आत्मानम्] अपने एक आत्मा को ही [बिभ्रत्] धारण करता हुआ, [प्रकटितपरमार्थैः दर्शनज्ञानवृत्तैः कृतपरिणतिः] जिनका परमार्थ प्रगट हुआ है ऐसे दर्शनज्ञानचारित्र से जिसने परिणति की है ऐसा [आत्म-आरामे एव प्रवृत्तः] अपने आत्मारूपी बाग (क्रीड़ावन) में प्रवृत्ति करता है, अन्यत्र नहीं जाता ।

भावार्थ : सर्व परद्रव्यों से तथा उनसे उत्पन्न हुए भावों से जब भेद जाना तब उपयोग के रमण के लिये अपना आत्मा ही रहा, अन्य ठिकाना नहीं रहा । इस प्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्र के साथ एकरूप हुआ वह आत्मा में ही रमण करता है - ऐसा जानना ।

श्लोक - ३१ पर प्रवचन

अब, इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं — (कलश ३१)

इति सति सह सर्वैरन्यभावैर्विवेके
स्वयमयमुपयोगो बिभ्रदात्मानमेकम् ।

प्रकटितपरमार्थैर्दर्शनज्ञानवृत्तैः

कृतपरिणतिरात्माराम एव प्रवृत्तः ॥३१ ॥

आहाहा! इस प्रकार पूर्वोक्तरूप से भावकभाव और ज्ञेयभावों से भेदज्ञान होने पर.... पहले ३६ (गाथा) में भावकभाव का कहा था। कर्म जो भावक है, उससे पर्याय में भाव / भाव्य विकार हो, वह भावकभाव उससे भेद है। भावककर्म के निमित्त से होनेवाला विकारी भाव्य (अवस्था), उस भाव्य और भावक से भगवान भिन्न है - ऐसा बतलाया। आहाहा! उस विकारी पर्याय से भी भगवान भिन्न है। वह विकारी पर्याय तो भावक का भाव है, उससे भगवान आत्मा भिन्न है - ऐसा बतलाया। आहाहा!

यहाँ ज्ञेय भावों से भेद है - ऐसा बतलाया (गाथा) ३७ में (बतलाया) अनन्त सिद्ध हैं, अरिहन्त हैं, उनसे भी यह प्रभु तो भिन्न है। आहाहा! 'सर्वैः अन्यभावैः सह विवेके सति' सर्व अन्यभावों से जब भिन्नता हुई तब.... विवेक, विवेक अर्थात् भिन्न, भिन्नता। सह साथ में विवेके विवेक अर्थात् भेद, भेदज्ञान हुआ। सर्व अन्यभावों से जब भिन्नता हुई तब यह उपयोग स्वयं ही अपने एक आत्मा को ही धारण करता हुआ,.... भेद से बात की है। उपयोग है, वह स्वयं अपने एक आत्मा को ही धारण करता हुआ।

'प्रकटितपरमार्थैः दर्शनज्ञानवृत्तैः कृतपरिणतिः' जिनका परमार्थ प्रगट हुआ है - ऐसे दर्शनज्ञानचारित्र से जिसने परिणति की है.... आहाहा! जिसने ऐसा अन्तरंग तत्त्व, ऐसे भगवान दृष्टि में लेकर परिणमित हुआ, उसे दर्शन-ज्ञान और चारित्र तीनों परिणमित हुए हैं, कहते हैं। आहाहा! वापस वहाँ उपयोग शब्द लिया न! पाठ में आत्मा लिया। उपयोग है, वह ही मैं हूँ। फिर टीका में आत्मा लिया न! भाई! यहाँ उपयोग लिया, आत्मा लिया परन्तु यह उपयोग, आत्मा, यह भेद - ऐसा भी नहीं। वह तो आत्मा ही पूरा, उपयोग वह आत्मा ऐसा भेद डालने की अपेक्षा उपयोगस्वरूप ही भगवान आत्मा अभेद है। आहा!

धारण करता हुआ,.... भगवान आत्मा अपने स्वभाव को धारण करता हुआ — दर्शन-ज्ञान और चारित्ररूप परिणमता हुआ... आहाहा! भावकभाव से भिन्न हुआ, ज्ञेयभाव से भिन्न हुआ; अब स्वयं अपने स्वभाव को धारण करता हुआ.... आहाहा! अब ऐसी बातें!

यह तो मन्त्र हैं! आहाहा! जिनका परमार्थ प्रगट हुआ है.... परमार्थ अर्थात् भगवान आत्मा में दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हुए हैं। आहाहा! अन्तरंग तत्त्व वह मैं - ऐसी प्रतीति सम्यग्दर्शन; अन्तरंग तत्त्व, वह मैं, उसका ज्ञान वह सम्यग्ज्ञान; अन्तरंग तत्त्व में रमणता, वह चारित्र (है)। आहाहा! ऐसे जो स्वभाव में दर्शन-ज्ञान-चारित्र थे, वे पर्याय में प्रगट हो गये हैं। आहाहा! समझ में आया? प्रगट कहा न? आहा! 'प्रकटितपरमार्थः' ऐसा है न पाठ? परमार्थ-परमदर्शन, ज्ञान और चारित्र। मैं ज्ञायकभाव, वह मैं हूँ - ऐसी प्रतीति हुई, वह सम्यग्दर्शन प्रगट; ज्ञायकभाव, वह मैं हूँ - ऐसा ज्ञान वह प्रगट, वह पर्यायज्ञान और उस ज्ञान-दर्शन में स्थिरता हुई, वह प्रगट दर्शन-ज्ञान और चारित्र। आहाहा! शक्तिरूप से तो दर्शन-ज्ञान-चारित्र थे। समझ में आया? वे दो किये - ज्ञान प्रकाश, आनन्द और अनुभव तथा यह तीसरा अब यहाँ चारित्र, वह आनन्द के साथ लिया। ज्ञानप्रकाश था न? ज्ञान के दो भेद किये। अब यहाँ दर्शन और ज्ञान दो, प्रतीति और ज्ञान; चारित्र में आनन्द आया। आहाहा! 'प्रकटितपरमार्थः दर्शनज्ञानवृत्तैः' देखो! यह वृत्ते शब्द पड़ा है, वह व्रत नहीं अर्थात् चारित्र के स्वरूप की रमणता, वह वृत्तैः।

श्रोता : परिणमन....

पूज्य गुरुदेवश्री : परिणमन, स्थिर। आहाहा!

जिनका परमार्थ प्रगट हुआ है.... परमार्थ प्रगट हुआ है। परम पदार्थ तो अन्तरंग तत्त्व तो है, उसे अब परमार्थ प्रगट हुआ है। आहाहा! दर्शन-ज्ञान और चारित्र जिसे प्रगट हुए हैं। जिसने परिणति की है - ऐसा अपने आत्मारूपी बाग में प्रवृत्ति करता है,.... आहाहा! आत्मारूपी बाग में है न? 'आत्म-आरामे' - प्रवृत्ति करता है। आत्मा अपने स्वरूप में प्रवृत्ति करता है। आहाहा! आत्मारूपी आराम! आरामस्थल! विश्रामस्थल में आराम में रमता है। आहाहा! अन्यत्र नहीं जाता। वह राग में और पर में नहीं जाता। आहाहा! उसे यहाँ आत्मा को जीव कहा जाता है। जीव अधिकार है न? आहाहा! लोगों को-उस व्यवहार की क्रिया के रसवालों को यह ऐसा लगता है कि यह क्या है? कैसा यह? बापू! मार्ग यह है, भाई! वह क्रिया का राग है, वह तो भावक का भाव है। क्रिया का जो राग है न - दया, दान, व्रत वह तो भावक का भाव है; वह स्वभावभाव नहीं। आहाहा!

उससे भी यहाँ तो भेद बतलाकर... आहाहा ! वह जाननेवाला भगवान प्रकाशित होता है और अनाकुल आनन्द के स्वाद में रहता हुआ प्रगट हुआ है । आहाहा !

यह महामांगलिक है । आहाहा ! **अपने आत्मारूपी (क्रीड़ावन) में....** आत्मा में प्रवृत्ति करता है । टीका में लिखा है, टीका करके उसमें कहते हैं — आत्मा, उपयोग है — ऐसे दो भाग मत करो । आत्मा, आत्मा में है । निश्चय से अभेद रखो, भेद डालकर कथन मत करो — ऐसा लिखा है । कलश-टीका में, उस कलश-टीका में, हों ! अध्यात्म तरंगिणी में ।

भावार्थ : सर्व परद्रव्यों से तथा उनसे उत्पन्न हुए भावों से.... उनसे उत्पन्न हुए भावों — विकार आदि **जब भेद जाना....** सर्व परद्रव्यों से और उनसे उत्पन्न हुए भावों, अर्थात् परद्रव्य, वे ज्ञेय और यह भावकभाव — उत्पन्न हुए भाव तो **जब भेद जाना तब उपयोग के रमण के लिये अपना आत्मा ही रहा,....** आहाहा !

जब राग और परज्ञेय से भगवान को भिन्न जाना, तब उसके रहने का स्थान, रमने का (स्थान) तो आत्मा रहा । आहाहा ! जो पर में रमता था, उससे भेद किया; इसलिए उसे अब आत्मा में रहने का रहा । आहाहा ! **उपयोग के रमण के लिये अपना आत्मा ही रहा, अन्य ठिकाना नहीं रहा ।** आहाहा ! **इस प्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्र के साथ एकरूप हुआ....** जीव अधिकार की अन्तिम ३८वीं गाथा कहनी है... **दर्शन-ज्ञान-चारित्र के साथ एकरूप हुआ....** पर्याय में.... **वह आत्मा में ही रमण करता है....** हुआ वह आत्मा में ही रमण करता है — ऐसा जानना । आहाहा !

अब यह ३८ (गाथा) का उपोद्घात है । अब, **इस प्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप परिणत आत्मा को स्वरूप का संचेतन कैसा होता है....** उसे वेदन कैसा होता है ? यह कहते हुए **आचार्य इस कथन को समेटते हैं — ३८ गाथा कहकर जीव का अधिकार पूरा करते हैं ।**

विशेष कहेंगे....

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव !)